THE TIMES OF INDIA

Date:20-02-24

Elections Need Money But Also Protection From Money

Transparency in political finance is a tricky issue in all democracies. Now that electoral bonds are outlawed, what can India learn from German and American models?

Nandita Sengupta

Transparency and minimising illicit funds in electoral finance – party income, campaign funds and expenditure – is hands-down the biggest challenge for democracies world over. Vital to the idea of free and fair elections is for voters to know where a party or candidate's money is coming from and how they're spending it.

How do parties raise funds? | From members, individuals, private donors. From unions, trusts and companies. The last, income from companies, has been the most contentious worldwide including in India, which decades ago had fleetingly banned corporate donations. The concern is companies that fill party coffers and politicians' pockets exert unfair influence on policy. But bans on company donations tend to drive such transactions underground. Two, regulations and caps have failed to bring in transparency in such transactions of large amounts.

State funding of elections is followed in several countries, mostly in Europe, and in some states of US. Most European nations earmark their funds to parties – especially as incentives to promote women's representation and voter education. Scotland incentivises, tags funds to political participation of persons with disabilities.

US model | Funds from political action committees (PACs), Super-PACs, social welfare groups, national, state, and local party committees and lobbyists add to individual donations to election campaigns. A 2010 landmark and controversial case, Citizens United vs Federal Election Commission, swerved political finance towards deregulation by prohibiting government from imposing any restrictions on corporations engaging in electioneering.

On state funding, Federal Election Commission sets out matching funds for presidential candidates of major and minor parties who meet given criteria. Payments are made from the '$3 tax checkoff'. A federal income tax form asks taxpayers if they wish to give $3 of their taxes to Presidential Election Campaign Fund. When taxpayers say 'yes', $3 goes into the fund. This is the sole source of funds for the public funding programme – reportedly, barely 4% taxpayers tick 'yes'. Nominees too are barely interested in tapping this given other sources of Big Money.

German model | State funding as followed in Germany is currently considered the most equitable practice. In this model of 'matching grants', up to 50% of a party's income, and no more, comes from the state. The amount to a party is decided basis a party's vote share in the latest election (European, national, regional) at a flat rate per vote; the rate graded with increasing vote shares. There is a disbursement ceiling to the state kitty.

- There is no limit on raising private and corporate donations. In no case, however, can the amount of public funds exceed the sum of private funds that a party raises by itself. High-value funds must be reported immediately. State financing is used for both party management and elections, and can be received in a staggered manner from after the election to the next one.

- Matching grants ensure that smaller parties too, who crossed the threshold of 5% vote share in the last election, receive assured income from the state.

- In January, Germany's top court cut funding to a minor far-right party it found to be 'explicitly undermining' German democracy. So, state funds can also be used to penalise.

Why public funding of elections is a challenge in India | Per various studies, the problem is the nature of our political parties and our political system.

- With intra-party democracy not quite the norm, state funds will remain in the control of party leadership. Rather than flow to candidate level.

- In a first-past-the-post system, Lok Sabha elections especially are highly centralised. Funds allocation basis vote shares will then be unfairly skewed towards the largest national parties. Voters, to 'make their vote count', vote for party perceived to be winning even though their actual support may be for a smaller regional party.

- Independents stand to lose, unlikely to have vote-share thresholds at state or national levels to qualify for state funds.

- State funds also cannot solve the problem of illicit donations from companies.

Why it is a good idea | What state funds can do is reduce parties' dependence on corporate donors and networks at the local level, the patron-client election-time economy. One idea is for matching grants to donations of small denominations from supporters. If the electorate puts its money where their vote is, parties will be that much more strengthened. But in India, as goes the joke, the reverse is more often true – voters seekquick returns from candidates against promise of their vote.

Matching grants works well in Germany also because its electoral system is a mixed one where half its seats are directly elected and half elected on party lists. Seats for the latter are then allocated basis vote shares. How parties are funded can hardly be viewed in a silo. It has as much to do with the electoral system as it has to do with the nature of parties.

दैनिक भास्कर

Date:20-02-24

कृषि को देखने का हमारा नजरिया बदलना होगा

संपादकीय

अगर कृषि देश का 45-46 प्रतिशत कार्यबल ढो रही है और पिछले 12 वर्षों में यह हिस्सेदारी बढ़ी ही है, तो इसका सीधा मतलब है कि एक बड़ी आबादी इस पर निर्भर है। एक दूसरा उदाहरण लें। भारत के इतिहास में पहली बार मैन्युफेक्चरिंग (11.6%) से ज्यादा लोग कंस्ट्रक्शन (12.4%) और होटल, रेस्तरां व ट्रेड (12.1%) में रोजगार पा रहे हैं। अगर मैन्युफेक्चरिंग क्षेत्र दूसरे स्थान से गिरकर चौथे स्थान पर पहुंच गया है तो मतलब अर्थ-नीति में कुछ भारी गड़बड़ है। सोचिए अगर कृषि न होती तो देश के 50 करोड़ लोग कहां जाते ? कहना न होगा कि कंस्ट्रक्शन, ट्रेड और रेस्तरां आदि आमतौर पर असंगठित क्षेत्र हैं, जहां श्रमिक की स्थिति अच्छी नहीं है। ऐसे में यह मानना गलत होगा कि कृषि में इनपुट सब्सिडी, इनकम सप्लिमेंट या एमएसपी जैसी अन्य मदद देना कोई बड़ा अहसान है। अगर देश की आधी आबादी आज भी कृषि में है लेकिन जीडीपी में उसका योगदान मात्र 17% ही है जबकि अमेरिका में 1.2% आबादी खेती करती है। अगर चीन की 4.4% आबादी खेती में 7.3 फीसदी योगदान करती है तो समाधान कृषि पर लोड कम करने से होगा। किसानों को अन्नदाता बताकर 17 रु. रोज की सम्मान निधि और एमएसपी देने से आर्थिकी में शायद ही कोई मौलिक सुधार हो । कुछ अर्थशास्त्रियों को यह भी ऐतराज है कि किसानों को उनकी सकल लागत (सी-2) का 50 प्रतिशत लाभ क्यों? जबकि कई शीर्ष उद्योगपतियों का लाभ कई गुना है। सरकार भूल रही है कि आज भी कृषि का जीवीए - जीवीओ (ग्रॉस वैल्यू एडेड और ग्रॉस वैल्यू आउटपुट) अनुपात इंडस्ट्रीज से कई गुना ज्यादा है, लेकिन मौसम की मार, श्रमिकों का बाहुल्य, सिंचाई सुविधा का अभाव और मार्केट का शोषण जो किसानों को झेलना पड़ता है उद्योगपतियों को नहीं। किसान टमाटर, प्याज और दूध जैसे उत्पाद यूं ही नहीं सड़कों पर फेंकता।

दैनिक जागरण

Date:20-02-24

उत्तराखंड ने दिखाई देश को दिशा

प्रो. रसाल सिंह, (लेखक दिल्ली विश्वविद्यालय के किरोड़ीमल कालेज में प्रोफेसर हैं)

भारत की विधायी व्यवस्था में एक ऐसे सार्वभौमिक सामाजिक विधान का अभाव है, जो सभी सामाजिक-पंथिक समुदायों पर एकसमान रूप से लागू हो। इस आवश्यकता की पूर्ति की दिशा में उत्तराखंड ने महत्वपूर्ण पहल की है। उत्तराखंड ने

समान नागरिक संहिता के माध्यम से सामाजिक कानूनों के सुधार की दिशा में प्रगतिशील कदम बढ़ाया है। यह संहिता बहुविवाह और बाल विवाह जैसी प्रथाओं के उन्मूलन के साथ ही विवाह की आयु का समानीकृत करती है। यह प्रयास कानूनी समानता को बढ़ावा देने, भारतीय राजनीतिक ढांचे को मजबूती प्रदान करने, लैंगिक समानता, महिला सशक्तीकरण, बाल सुरक्षा तथा सामाजिक समानता के मूल्यों को आगे बढ़ाने की दिशा में मील का पत्थर सिद्ध होगा। इससे एक समरस और समावेशी समाज का निर्माण होगा। लड़कियों का भी उचित शारीरिक-मानसिक विकास हो सकेगा। उन्हें अपनी शिक्षा पूरी करने और अपने भविष्य को स्वयं निर्धारित करने का समुचित अवसर मिल सकेगा। इसके अलावा, संहिता समान उत्तराधिकार की वकालत करती है। इससे बेटियों को बराबरी का दर्जा प्राप्त होगा। तलाक की प्रक्रिया भी न्यायसंगत होगी। विवाह और तलाक पंजीकरण को अनिवार्य बनाकर यह संहिता राजकीय सेवाओं, योजनाओं और सुविधाओं की समान पहुंच और प्राप्ति सुनिश्चित करती है।

प्रशासनिक सुगमता और पारदर्शिता को प्रोत्साहन देने वाली यह संहिता कुछ कुप्रथाओं से मुक्ति दिलाने वाली भी है। इससे मुस्लिम समाज की महिलाओं को हलाला तथा इद्दत जैसी विवादास्पद प्रथाओं से राहत मिलेगी। इसमें सहजीवन संबंधों को कानूनी मान्यता का भी प्रविधान है। साथ ही, वैवाहिक अलगाव में सुलह की संभावना तलाशने हेतु एक 'कूलिंग-आफ' अवधि का भी प्रस्ताव है। माता-पिता के बीच विवाद के संदर्भ में यह बच्चों की कस्टडी के लिए क्रांतिकारी समाधान प्रस्तुत करते हुए दादा-दादी को भी संभावित अभिभावक के रूप में मान्यता देती है। इसमें अनाथ बच्चों को गोद लेने की प्रक्रिया को भी सुगम किया गया है। साथ ही, दिवंगत जीवनसाथी के माता-पिता की देखभाल के लिए भी व्यापक प्रविधान हैं। ये सुधारात्मक प्रस्ताव कानूनी समरूपता और सांस्कृतिक परंपराओं के बीच सुचिंतित समन्वयकारी संतुलन का परिणाम हैं। इनका उद्देश्य एक ऐसे समाज की रचना करना है जो न केवल सामाजिक न्याय और समता के मूल्यों को प्रोत्साहित करता है, बल्कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता, मानव अधिकार और सांस्कृतिक बहुलता को भी स्वीकारता है। सार्वभौमिकता के बीच उत्तराखंड की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और विविधता के संरक्षण हेतु जनजातीय समुदायों की संस्कृति और रीति-रिवाजों के रक्षोपाय भी करता है। अनुसूचित जनजातियों के लिए इसमें कुछ विशिष्ट छूट प्रदान की गई हैं, जो उनकी मूल पहचान और सांस्कृतिक विरासत को सहेजने के लिए आवश्यक है।

मुस्लिम तुष्टीकरण की राजनीति में लिप्त कांग्रेस, माकपा और तृणमूल कांग्रेस जैसे राजनीतिक दलों का इसे लेकर विरोध जस का तस है। ऐसे दल और संगठन भूल जाते हैं कि बहुसंख्यक हिंदुओं के अलावा बौद्ध, सिख और जैन समुदाय जैसे अल्पसंख्यक भी हिंदू कोड बिल के अंतर्गत ही आते हैं, जिसमें हिंदू विवाह अधिनियम और हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम जैसे महत्वपूर्ण कानून शामिल हैं। दूसरी ओर, मुसलमानों पर शरीयत आधारित मजहबी कानून लागू होते हैं। इन कानूनों में पितृसत्तात्मक संरचनाएं प्रभावी हैं। यह प्रवृत्ति महिलाओं के लिए समानता की संभावनाओं को सीमित करती है। परिणामस्वरूप विवाह, तलाक और उत्तराधिकार संबंधी मामलों में लैंगिक भेदभाव को बढ़ावा मिलता है। इस्लामी न्यायशास्त्र की आड़ में बहुविवाह को भी वैधता प्रदान की जाती है।

इन्हीं विसंगतियों को दूर करने के लिए समान नागरिक संहिता की आवश्यकता को सर्वोच्च न्यायालय ने बार-बार रेखांकित किया है। उसने एक सुसंगत कानूनी ढांचे के निर्माण की हिमायत की है। इनमें शाहबानो मामला (1985), सरला मुद्गल मामला (1995), जान वल्लमट्टम मामला (2003), डेनियल लतीफी मामला (2001) और जोसेफ शाइन मामला (2018) प्रमुख हैं, जब इस संहिता के लिए पैरवी होती दिखी। कुछ प्रमुख मुस्लिम देशों की बात करें तो तुर्की और ट्यूनीशिया जैसे देशों ने बहुविवाह को निषिद्ध किया हुआ है। अल्जीरिया, मोरक्को और सऊदी अरब जैसे देश भी लैंगिक समानता और सामाजिक कल्याण में सुधार के लिए अपने कानूनी ढांचे में परिवर्तन कर रहे हैं। रूस, अमेरिका,

स्विट्जरलैंड, ब्राजील और जर्मनी जैसे देशों में अपने-अपने सर्वव्यापी सिविल कोड्स हैं। ये उदाहरण लैंगिक समानता और सामाजिक न्याय के प्रति बढ़ती जागरूकता और उन्हें एकीकृत कानूनी ढांचे में समाहित करने की दिशा में वैश्विक सक्रियता को दर्शाते हैं।

चूंकि प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने कई बार दोहराया है कि विविधतापूर्ण सामाजिक-कानूनी प्रणाली के साथ देश का संचालन कठिन है तो ऐसे में यह अपेक्षा स्वाभाविक है कि उत्तराखंड के बाद ऐसी संहिता अब राष्ट्रीय स्तर पर भी अस्तित्व में आएगी। देशव्यापी समान नागरिक संहिता लागू होने से भारतीय समाज में ऐतिहासिक परिवर्तन आएगा। इससे पंथ-मजहब या लिंग के आधार पर होने वाले भेदभावों की समाप्ति के साथ सभी महिलाओं और बच्चों को समान एवं न्यायसंगत अधिकार मिल सकेंगे। यह एकीकृत कानूनी ढांचा न केवल विविध क्षेत्रों में कानूनी विसंगतियों को दूर करेगा, बल्कि न्यायिक प्रक्रिया को भी अधिक सरल एवं सुगम बनाएगा। इससे संविधान के मूल्यों और आदर्शों को भी मजबूती मिलेगी। मध्ययुगीन और कालबाह्य परंपराओं से मुक्ति के साथ ही इससे आधुनिकता के साथ समाज का तादात्म्य भी स्थापित होगा।

जनसत्ता

Date:20-02-24

नक्सली नासूर

संपादकीय

छत्तीसगढ़ में अब भी नक्सली हमलों को रोक पाना सरकार के लिए बड़ी चुनौती है। मौका पाते ही नक्सली सशस्त्र बलों पर हमला कर देते हैं। केंद्र और राज्य सरकारें दावा करती रही हैं कि नक्सलियों पर काफी हद तक नकेल कसी जा चुकी है। मगर हकीकत यह है कि नक्सली सरे-बाजार किसी सुरक्षाकर्मी का कुल्हाड़ी से गला काट कर हत्या कर देते हैं। वहां के बीजापुर जिले में हुई घटना इसका उदाहरण है। भरे बाजार में नक्सलियों ने कुल्हाड़ी से छत्तीसगढ़ सशस्त्र बल के एक कंपनी कमांडर का गला काट दिया। इसके पहले कई बार वे बारूदी सुरंग बिछा कर या उनके शिविर और काफिले पर सीधे हमला कर बड़ी संख्या में सुरक्षा कर्मियों की हत्या कर चुके हैं। पिछली सरकार ने उन्हें मुख्यधारा में लाने के लिए कई योजनाएं चलाईं। वनोपज और हस्तशिल्प की खरीद की दरें तय कर दी गईं, ताकि आदिवासी समूहों को आर्थिक संबल मिल सके और वे नक्सलियों के प्रभाव से मुक्त हो सकें। मगर वे योजनाएं पूरी तरह कारगर नहीं हो पाईं। अब स्थिति यह है कि कुल्हाड़ी से भी सुरक्षाकर्मियों की हत्या कर आसानी से गायब हो जाते हैं। जाहिर है, उन्हें स्थानीय लोगों का समर्थन हासिल है।

छत्तीसगढ़ में नक्सली समस्या बहुत पुरानी है। उससे पार पाने के लिए कई तरीके आजमाए गए। ज्यादातर मामलों में उनके दमन का रास्ता ही अख्तियार किया गया। उनसे बातचीत के जो भी प्रयास हुए, वे नाकाफी साबित हुए। ज्यादातर नक्सली हमलों में देखा गया है कि उनके पास अत्याधुनिक हथियार और सूचना संसाधन पहुंच चुके हैं। वे सुरक्षाबलों की गतिविधियों और काफिले वगैरह का ठीक-ठीक पता लगा लेते और बारूदी सुरंग बिछा कर हमला कर देते हैं। यह समझना मुश्किल है कि उनके पास इतने हथियार और साजो-सामान पहुंच कैसे रहे हैं। उन रास्तों पर सुरक्षाबलों की नजर जा नहीं पा रही, जिनके जरिए उन तक साजो-सामान पहुंच रहा है। हालांकि इसके कुछ तथ्य उजागर हैं। जबरन वसूली और मादक पदार्थों की बिक्री से वे अपना वित्तीय ढांचा मजबूत कर पाने में सफल हो जाते हैं। मगर ड्रोन, हेलीकाप्टर आदि का इस्तेमाल होने के बावजूद वे कैसे सुरक्षा इंतजामों को चकमा दे पा रहे हैं, कैसे स्थानीय लोगों का उन्हें समर्थन लगातार मिल पा रहा है, इस पर प्रशासन को गंभीरता से सोचने की जरूरत है।

सबसे अहम बात कि नक्सली आखिर क्यों व्यवस्था के लिए चुनौती बने हुए हैं। उनकी मांगों को सुनने और उनका कोई व्यावहारिक रास्ता निकालने का प्रयास किया जाता, तो शायद यह समस्या इतने दिन तक न बनी रहती। दरअसल, आदिवासी समुदाय के भीतर यह भय लगातार बना हुआ है कि उनकी जमीन और जंगल हड़प कर सरकार खनिज निकालने वाली कंपनियों को सौंप देना चाहती है। ऐसा अनेक जगहों पर हो चुका है। विकास के नाम पर हर सरकार का प्रयास होता है कि खनिज वाली जगहों का दोहन किया जाए। मगर आदिवासी इसके लिए तैयार नहीं हैं। उनके इलाकों में स्कूल, चिकित्सालय, सड़क-बिजली-पानी की सुविधा पहुंचाई गई, मगर इससे उनका मन नहीं बदला है, तो इसके लिए दूसरे रास्तों की तलाश जरूरी है। नाराज आदिवासी ही प्राय: नक्सली समूहों को पनाह देते देखे जाते हैं। हालांकि छत्तीसगढ़ में नक्सलवाद अपने सिद्धांत से काफी भटका चुका है, मगर वह चुनौती बना हुआ है, यह सरकारों के लिए चिंता का विषय होना चाहिए।

Date:20-02-24

प्रतिनिधि का पक्ष

संपादकीय

हाल ही में चंडीगढ़ मेयर चुनाव के बाद पीठासीन अधिकारी ने जो किया, उस मामले की सुनवाई सर्वोच्च न्यायालय में चल रही है। मगर इस बीच वहां पार्षदों के पाला बदलने की खबरें आई हैं, उससे यही लगता है कि चुनावी भ्रष्टाचार के बरक्स चुने गए प्रतिनिधियों का पक्ष एक गंभीर समस्या बन चुकी है। गौरतलब है कि मतगणना के दौरान उभरे विवाद के तूल पकड़ने पर भाजपा के महापौर बने मनोज सोनकर ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। दूसरी ओर, आम आदमी पार्टी के तीन पार्षदों के भाजपा में शामिल होने की खबर आई। इस पक्ष बदलने की औपचारिक घोषणा होती है, तो निगम में अब भाजपा पार्षदों के कुल मतों की संख्या अठारह हो जाएगी, जो भाजपा को अपने महापौर, उपमहापौर और वरिष्ठ महापौर चुनने के लिए पर्याप्त है। मेयर चुनाव के नतीजों के दौरान जो विवाद उभरा था, वह अब सुप्रीम कोर्ट में है और इस पर अदालत की सख्त टिप्पणियां आ चुकी हैं। सुनवाई के दौरान शीर्ष अदालत ने चुनाव प्रक्रिया में हस्तक्षेप के लिए पीठासीन अधिकारी पर मुकदमा चलाने की बात कही।

सवाल है कि मेयर चुनाव में भाग लेने वाले गैरभाजपा दलों की ओर से मतपत्रों के साथ छेड़छाड़ की जो शिकायत की गई थी, वह सही साबित होती भी है तो नतीजा क्या होगा ! अब नई तस्वीर यह है कि संख्या बल के हिसाब से नतीजे भाजपा के पक्ष में जाने की ही संभावना बन रही है। जिन पार्षदों के अपना पक्ष बदल लेने की खबरें हैं, कुछ दिनों के भीतर ऐसा क्या हुआ कि उनके सामने अपनी पार्टी को छोड़ देना ही एकमात्र विकल्प बचा ? दरअसल, राजनीतिक गलियारे में अब अपनी पार्टी के प्रति निष्ठा और जनता के विश्वास जैसे मूल्य बहुत तेजी से छीजते जा रहे हैं। इसमें कई उम्मीदवारों का मकसद किसी तरह जीत कर सिर्फ सत्ता पक्ष में शामिल होना होता है। यह समझना मुश्किल नहीं है कि ऐसे में चुनाव प्रक्रिया में लोकतांत्रिक मूल्यों और सिद्धांतों की राजनीति के लिए कितनी जगह बची है।

राष्ट्रीय सहारा

Date:20-02-24

यंग ब्रिगेड ने गाड़े झंडे

संपादकीय

खेलों की दुनिया में पिछले दिनों भारतीय यंग ब्रिगेड का जलवा देखने को मिला। एक तरफ यशस्वी जायसवाल, शुभमन गिल, सरफराज खान और ध्रुव जुरेल जैसे युवा क्रिकेटरों ने इंग्लैंड की बैजबॉल क्रिकेट का बाजा बजाकर भारत को पांच टेस्ट मैचों की सीरीज में 2-1 की बढ़त दिला दी है। वहीं दूसरी तरफ अनमोल परब, अश्मिता चालिहा, गायत्री गोपीचंद और त्रिशा जौली जैसी युवा शटलरों ने भारतीय महिला बैडमिंटन टीम को पहली बार बैडमिंटन एशिया टीम चैंपियनशिप का खिताब दिला दिया। भारतीय टेस्ट क्रिकेट हो या बैडमिंटन दोनों ही खेलों में काफी समय से युवाओं के आगे आने का इंतजार किया जा रहा था। पर अब लगता है कि इन दो सफलताओं से यंग ब्रिगेड ने साबित कर दिया है कि भविष्य की जिम्मेदारी उठाने में वह सक्षम हैं। क्रिकेट के दीवाने देश में काफी समय से क्रिकेट प्रेमियों को टेस्ट मैचों में सफलता के लिए विराट कोहली, रोहित शर्मा, चेतेश्वर पुजारा, अजिंक्य रहाणो और किसी हद तक केएल राहुल और श्रेयस अय्यर को देखने की आदत सी हो गई थी। इस कारण यह लगने लगा था कि बिना इन दिग्गजों के भारत का टेस्ट क्रिकेट में कोई भविष्य नहीं है। भारतीय टीम पिछले कुछ समय से पुजारा और रहाणे से तो आगे बढ़ गई थी, पर बाकी टीम के स्तंभ बने हुए हैं, लेकिन इंग्लैंड के खिलाफ सीरीज शुरू होने से पहले कोहली के निजी कारणों से सीरीज से हटने और फिर राहुल और अय्यर के चोटिल होने और भारत के पहला टेस्ट हारने से एक बार तो लगा कि टीम को लड़ने के लिए पुजारा को तो बुलाना ही पड़ेगा। पर तारीफ करनी होगी भारतीय टीम प्रबंधन की जिसने युवाओं पर भरोसा जताया। इन युवाओं में यशस्वी जायसवाल ने तो लगातार दो टेस्ट मैचों में दोहरे शतक जमाकर क्रिकेट बिरादरी को अपने आने का ऐलान कर दिया है। इसी तरह सरफराज खान ने जिस तरह की रनों की भूख दिखाई, उससे वह भी लंबी रेस के घोड़े लगते हैं। ऋषभ पंत की कमी को काफी हद तक ध्रुव जुरेल ने पूरा कर दिया है। इसे देखते हुए टीम का भविष्य उज्जवल नजर आता है। बैडमिंटन की एशियाई टीम चैंपियनशिप में 17 वर्षीय अनमोल और चालिहा ने शानदार प्रदर्शन से दिखा दिया

कि आने वाला कल उनका है। इससे यह तो उम्मीद बंधती है कि इन दोनों खेलों में भारतीय भविष्य सबल हाथों में है।

Live हिन्दुस्तान .com

Date:20-02-24

समाधान की कोशिशें

संपादकीय

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में चल रहे किसान आंदोलन के समाधान की कोशिशें एक-एक कर नाकाम हो रही हैं, तो यह न केवल दुखद, बल्कि चिंताजनक भी है। केंद्र सरकार ने 18 फरवरी को किसानों के सामने प्रस्ताव रखा था, जिसके तहत किसानों के साथ पांच फसलों, अर्थात मक्का, कपास, अरहर, मसूर और उड़द की खरीद के लिए पांच साल का अनुबंध किया जाना था। सरकार के इस प्रस्ताव में किसान नेताओं ने विचार का आश्वासन दिया था, पर संयुक्त किसान मोर्चा ने 19 फरवरी को चंडीगढ़ में केंद्रीय मंत्रियों के प्रस्ताव को खारिज कर दिया है। सरकार चाहती है कि किसानों को फसल विविधीकरण के लिए प्रेरित किया जाए, पर किसान न्यूनतम समर्थन मूल्य की वैधानिक गारंटी की मांग पर अड़े हुए हैं। वास्तव में, किसानों को दिया गया प्रस्ताव नया नहीं था और ऐसी आश्वस्ति एकाधिक पार्टियों के चुनावी घोषणापत्र में पहले भी आ चुकी है। ऐसी ही अनुशंसा स्वामीनाथन की अध्यक्षता वाले राष्ट्रीय किसान आयोग ने साल 2006 में की थी। किसानों को पुरानी अनुशंसा पूरी होने का स्वागत करना चाहिए था, भले ही वे अपनी अन्य मांगों के लिए अडे रहते। कुल मिलाकर रविवार को जो उम्मीदें बंधी थीं, सोमवार शाम होते टूट गईं।

चंडीगढ़ में किसान नेताओं ने घोषणा कर दी है कि गारंटीशुदा खरीद वाली सभी फसलों के लिए एमएसपी@सी2+50 प्रतिशत से नीचे कुछ भी स्वीकार्य नहीं है। किसानों की मांग बहुत लंबी-चौड़ी है, जिसे वे बार-बार दोहरा रहे हैं। अन्य मांगों में ऋण माफी की मांग शामिल है। बिजली का निजीकरण नहीं करने, व्यापक सार्वजनिक क्षेत्र की फसल बीमा योजना लाने, 60 साल से अधिक उम्र के किसानों को 10,000 रुपये मासिक पेंशन देने, अजय मिश्रा टेनी को बर्खास्त करने और मुकदमा चलाने की भी मांग हो रही है। कुछ मांगें बहुत गंभीर किस्म की हैं, जिनको पूरा करने का असर देश में अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ सकता है। देश में अनेक वर्ग ऐसे हैं, जो ताकतवर नहीं हैं, राजधानी को घेरने की स्थिति में नहीं हैं, तो क्या उनकी मांगें कभी नहीं मानी जाएंगी? खासतौर पर एक सूबे के किसान नेता अपने आंदोलन को देश भर में फैलाना चाहते हैं, तभी तो पूरे भारत में भाजपा व एनडीए के संसदीय क्षेत्रों में शांतिपूर्ण प्रदर्शन, सार्वजनिक बैठकें और मशाल जुलूस आयोजित करने का आह्वान भी किया गया है। साफ है, किसान आंदोलन को पूरे देश में फैलाने के उपाय किए जा रहे हैं। हालांकि, अन्य राज्यों पर अगर हम नजर फेरें, तो किसान आंदोलन के प्रति सुगबुगाहट न के बराबर महसूस हो रही है। क्या इस आंदोलन के नेताओं ने बिहार, उत्तर प्रदेश, झारखंड, छत्तीसगढ़, बंगाल, मध्य प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र जैसे राज्यों के किसानों को भी विश्वास में लिया है? देखना चाहिए कि उनका आंदोलन एक सूबे का आंदोलन न मान लिया जाए।\nचिंता बढ़ रही है कि किसानों का आंदोलन आने वाले दिनों में उग्र होता जाएगा। हालांकि, इस बार आंदोलन को पिछली बार की तरह व्यापक समर्थन नहीं दिख रहा है, क्योंकि ज्यादातर लोगों को लगता है कि चुनाव से ठीक पहले आंदोलन के राजनीतिक निहितार्थ ज्यादा हो सकते हैं। अगर सरकार द्वारा

किसी आंदोलन के खिलाफ बल प्रयोग सही नहीं है, तो किसी आंदोलन की उग्रता या अनुशासनहीनता का भी कतई स्वागत नहीं किया जा सकता। शांतिपूर्ण और तार्किक समाधान की राह जल्द से जल्द निकलनी चाहिए।

चंडीगढ़ में किसान नेताओं ने घोषणा कर दी है कि गारंटीशुदा खरीद वाली सभी फसलों के लिए एमएसपी@सी2+50 प्रतिशत से नीचे कुछ भी स्वीकार्य नहीं है। किसानों की मांग बहुत लंबी-चौड़ी है, जिसे वे बार-बार दोहरा रहे हैं। अन्य मांगों में ऋण माफी की मांग शामिल है। बिजली का निजीकरण नहीं करने, व्यापक सार्वजनिक क्षेत्र की फसल बीमा योजना लाने, 60 साल से अधिक उम्र के किसानों को 10,000 रुपये मासिक पेंशन देने, अजय मिश्रा टेनी को बर्खास्त करने और मुकदमा चलाने की भी मांग हो रही है। कुछ मांगें बहुत गंभीर किस्म की हैं, जिनको पूरा करने का असर देश में अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ सकता है। देश में अनेक वर्ग ऐसे हैं, जो ताकतवर नहीं हैं, राजधानी को घेरने की स्थिति में नहीं हैं, तो क्या उनकी मांगें कभी नहीं मानी जाएंगी? खासतौर पर एक सूबे के किसान नेता अपने आंदोलन को देश भर में फैलाना चाहते हैं, तभी तो पूरे भारत में भाजपा व एनडीए के संसदीय क्षेत्रों में शांतिपूर्ण प्रदर्शन, सार्वजनिक बैठकें और मशाल जुलूस आयोजित करने का आह्वान भी किया गया है। साफ है, किसान आंदोलन को पूरे देश में फैलाने के उपाय किए जा रहे हैं। हालांकि, अन्य राज्यों पर अगर हम नजर फेरें, तो किसान आंदोलन के प्रति सुगबुगाहट न के बराबर महसूस हो रही है। क्या इस आंदोलन के नेताओं ने बिहार, उत्तर प्रदेश, झारखंड, छत्तीसगढ़, बंगाल, मध्य प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र जैसे राज्यों के किसानों को भी विश्वास में लिया है? देखना चाहिए कि उनका आंदोलन एक सूबे का आंदोलन न मान लिया जाए।

चिंता बढ़ रही है कि किसानों का आंदोलन आने वाले दिनों में उग्र होता जाएगा। हालांकि, इस बार आंदोलन को पिछली बार की तरह व्यापक समर्थन नहीं दिख रहा है, क्योंकि ज्यादातर लोगों को लगता है कि चुनाव से ठीक पहले आंदोलन के राजनीतिक निहितार्थ ज्यादा हो सकते हैं। अगर सरकार द्वारा किसी आंदोलन के खिलाफ बल प्रयोग सही नहीं है, तो किसी आंदोलन की उग्रता या अनुशासनहीनता का भी कतई स्वागत नहीं किया जा सकता। शांतिपूर्ण और तार्किक समाधान की राह जल्द से जल्द निकलनी चाहिए।

Date:20-02-24

ताकि आंदोलनों में किसी की जान न जाए

विभूति नारायण राय, (पूर्व आईपीएस अधिकारी)

हर बडे जनांदोलन के बाद पूरे अस्त-व्यस्त माहौल में सिर्फ एक छवि हमारी स्मृतियों में बची रह जाती है, और वह होती है, थके-हारे पुलिसकर्मियों की, जिनकी पूरे घटनाक्रम की शुरुआत में आमतौर से कोई भूमिका नहीं होती, मगर अंत में ठीकरा उन्हीं के सिर पर फूटता है। पिछले कुछ दिनों से जारी किसान आंदोलन के हर दिन शाम को इलेक्ट्रॉनिक और प्रिंट मीडिया की छवियां भी लगभग ऐसी ही हैं। किसान जिन मांगों को लेकर आंदोलित हैं, उनका पुलिस से कोई रिश्ता नहीं हो सकता। न तो मांगें उनके किसी दुराचरण से उपजी हैं, और न ही उनके पूरा होने या न होने में पुलिस की कोई भूमिका हो सकती है, मगर राज्य की सबसे दृश्यमान और दमनकारी भुजा होने के कारण आंदोलनकारियों से पहला मुचेहटा उन्हें ही लेना पड़ा है। किसानों के मामले में एक औसत पुलिसकर्मी की सहानुभूति भी आंदोलन के साथ थी,

क्योंकि उनमें से ज्यादातर गांवों से खेती-किसानी की पृष्ठभूमि से आते हैं, पर सिखलाई और अनुशासन के चलते वे अपने भाई-बंधुओं से कई दिनों से मोर्चा ले रहे हैं।

आंदोलनकारियों और पुलिस के बीच के रिश्ते एक पराधीन समाज में निर्धारित हुए थे और काफी हद तक अब भी वैसे ही बने हुए हैं। इसका प्रमुख कारण 1947 के बाद आए नए शासकों द्वारा औपनिवेशिक कानूनों से स्थापित पुलिस के चरित्र में कोई बुनियादी सुधार न करना है। भीड़ में शामिल व्यक्ति पहले की ही तरह अब भी उसका 'शत्रु' ही है, और अभी भी उसे निपटने के लिए शक्ति का अधिकतम प्रयोग करने में हिचक नहीं होती। यह अधिकतम शक्ति आमतौर से फायरिंग होती है, जिसके चलते दुनिया की सबसे बहुमूल्य किसी ऐसी जान का नुकसान होता है, जिसे थोड़ा धैर्य दिखाकर बचाया जा सकता था। याद करने की जरूरत है कि देश के एक बडे राजनेता ने आजाद भारत में जनता पर गोली चलाने का विरोध किया भी था। वह डॉक्टर राममनोहर लोहिया थे, जिन्होंने पुलिस फायरिंग के बाद साठ के दशक में केरल की अपनी ही पार्टी की पट्टमथानु पिल्लई सरकार से इस्तीफे की मांग की थी। उनके अनुसार, आजाद मुल्क की पुलिस को अपनी ही जनता पर गोली नहीं चलानी चाहिए। उनकी आवाज नक्कार खाने में तूती बनकर रह गई।

पुलिस बल के प्रयोग के चरण और उसकी सीमाएं भारतीय संविधान और देश के विभिन्न कानूनों में निर्धारित हैं। अगर उनका पालन किया जाए, तो अधिकांश मामलों में जान-माल के गंभीर नुकसान से बचा जा सकता है। यह देखना बड़ा दिलचस्प होगा कि निर्धारित-प्रक्रिया का पालन क्यों नहीं होता? पुलिस बल के प्रयोग के दौरान गोली चलाने की नौबत आने के पहले गैर-घातक विकल्पों का इस्तेमाल होना चाहिए, ऐसा प्रशिक्षण के दौरान सिखलाया जाता है। इनमें मुख्य रूप से लाठीचार्ज, आंसू गैस, वाटर कैनन, रबर बुलेट, पेलेट गन या स्टन ग्रिनेड जैसे विकल्प हो सकते हैं। कई देशों में वाटर कैनन से फेंके जाने वाले पानी में कुछ ऐसे तत्व भी मिलाए जाते हैं, जिनसे शरीर मे खुजली पैदा होती है। इन सारे विकल्पों के इस्तेमाल से किसी मनुष्य की जान जाने की आशंका काफी हद तक न्यूनतम हो सकती है, फिर क्योंकर ऐसा होता है कि ज्यादातर मामलों में शुरू में ही और अनियंत्रित मात्रा में पुलिस फायरिंग करती है, और बेशकीमती जानों का नुकसान होता है?

इसे समझने के लिए मैं अपने दो अनुभव रखना चाहता हूं। इलाहाबाद में 1990 में एक उत्तेजित और उपद्रवी भीड़ पर जब आंसू गैस के गोले छोड़ने का आदेश दिया गया, तो हमने पाया कि तीन उपलब्ध टीयर गैस गन में से दो तो वर्षों से इस्तेमाल न होने से जंग खाई हुई हैं और तीसरी से जिन गोलों को फायर किया गया, वे इतने दिनों से गोदाम में पड़े थे कि किसी काम लायक नहीं रह गए थे। ऐसा इसलिए था कि घातक बुलेट की जगह उनके इस्तेमाल का महत्व हमारी सोच का हिस्सा नहीं बन सका था। न तो सरकार नए गोलों के लिए धन अवमुक्त कर रही थी और न ही पुलिस-नेतृत्व जरूरी प्रशिक्षण में दिलचस्पी दिखा रहा था। कुछ वर्षों पूर्व दिल्ली के उत्तर-पूर्व जिले में हुई सांप्रदायिक हिंसा को समझने के लिए अवकाश-प्राप्त नौकरशाहों के एक दल के सदस्य के रूप में मैं मौके पर गया, तो मुझे कोई आश्चर्य नहीं हुआ कि एक सज्जन, जो आईएएस के वरिष्ठतम पद पर सेवा करने के अलावा उप-राज्यपाल भी रह चुके थे, सबसे ज्यादा इस बात से चकित थे कि तमाम अखबारों में दिल्ली पुलिस के ऐसे चित्र छपे थे, जिनमें पुलिसकर्मी भीड़ पर पत्थर फेंक रहे थे। वह मुझसे जानना चाहते थे कि क्या पुलिस की सिखलाई में पत्थर फेंकना भी शामिल है? उन्हें यह समझाने में मुझे कुछ समय लगा कि वहां मौजूद पुलिसकर्मियों के पास सिर्फ दो हथियार थे- डंडा और रायफल। चूंकि बलवाई इतनी दूर थे कि लाठी उन तक पहुंच नहीं सकती थी और गोली चलाने का हुक्म नहीं था, इसलिए पुलिसकर्मियों के पास सबसे आसान विकल्प यही था कि वे भीड़ द्वारा फेंके गए पत्थर उठाकर वापस उन्हीं पर फेंके। यदि उनके पास लाठी और गोली के बीच के विकल्प होते, तो शायद वे उनका उपयोग करते।

हालिया किसान आंदोलन के दौरान जमकर आंसू गैस के गोलों का इस्तेमाल हुआ और पहली बार वे ड्रोन से भी छोड़े गए, जिससे उनकी पहुंच बढ़ी। इनके अतिरिक्त, पानी की बौछारें छोड़ी गईं और बीच-बीच में रबर बुलेट भी फायर किए गए। इन सबसे पुलिस फायरिंग से बचा जा सका। जितने दृढ़-प्रतिज्ञ और जिस संख्या में किसान पंजाब-हरियाणा सीमा पर मौजूद थे, उसे देखते हुए यह कानून लागू करने वालों की सफलता ही कही जाएगी कि बिना जान-माल की बड़ी क्षति के उन्हें रोका जा सका। कारण बड़ा स्पष्ट है कि चुनावी वर्ष में सरकार जमीन पर लाशें गिराने का नतीजा समझती थी और उसने पुलिस को गोली न चलाने के स्पष्ट निर्देश दे रखे थे।

यही व्यवस्था आम दिनों में क्यों नहीं की जा सकती? लोकतंत्र में जनता सड़कों पर निकलेगी ही और कई बार उसे नियंत्रित करने के लिए राज्य पुलिस का प्रयोग भी करेगा। पुलिस के दिमाग में यह भरने की जरूरत है कि प्रदर्शनकारी शत्रु नहीं हैं, जिनके खिलाफ उसे अधिकतम बल का इस्तेमाल करना ही है। राज्य को भी उसे गैर-घातक विकल्प प्रदान करने चाहिए, जिनसे स्थिति नियंत्रित भी हो जाए और बेशकीमती जानों का नुकसान भी न हो।